SHODH SAMAGAM

ISSN : 2581-6918 (Online), 2582-1792 (PRINT)

आंखिन की देखी से कागद की लेखी का भरम तोड़ना (कबीरदास– श्रमजीवी दर्शन की एक प्रस्तावना)

वंदना चौबे, Ph.D., हिन्दी विभाग
आर्य महिला पी.जी. कॉलेज, चेतगंज, वाराणसी, उत्तरप्रदेश, भारत

ORIGINAL ARTICLE

Author
वंदना चौबे, Ph.D.

shodhsamagam1@gmail.com

Received on : 03/08/2023
Revised on : -----
Accepted on : 11/08/2023
Plagiarism : 04% on 03/08/2023

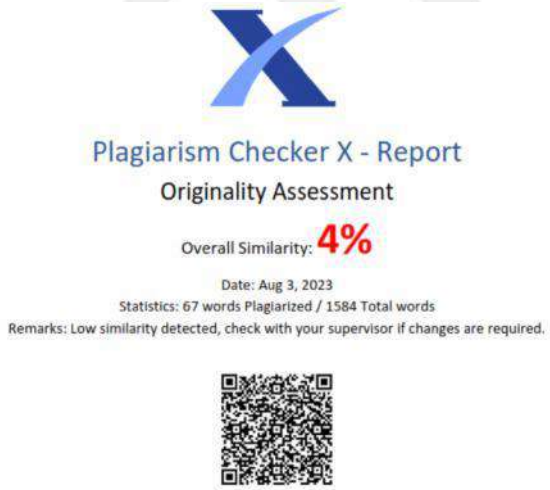

शोध सार

कबीर हिंदी साहित्य के बहुचर्चित संत–कवि हैं जिन पर लम्बे समय से लिखा–पढ़ा जा रहा है। कबीर की कविताई में संतों की वाणी या अध्यात्म तो खोजा गया लेकिन जुलाहे कबीर पर कम ही ध्यान दिया गया। कबीर कहते हैं–' मैं काशी का जुलाहा' तो एक तरह से वे घोषणा करते हैं कि उनकी पहचान उनकी बुनकारी से है। स्पष्ट है इस देश में रोटी, कपड़ा और मकान बनाने वालों में कबीर कपड़ा बनाने वाले जुलाहे हैं, अतः उनका जीवन और दर्शन श्रम पर आधारित है। यह श्रम का दर्शन ही है जिसने कबीर को यह साहस दिया कि वे काशी के कथित पढ़े–लिखे विद्वानों से बहस कर सकें। कबीर न शिक्षित थे न ही धनवान! और तो और तत्कालीन समय में जाति–वर्ण व्यवस्था और ज़्यादा ताकतवर थी। कथित रूप से श्रेष्ठ जाति के व्यक्ति सम्मान था। निश्चित रूप से जुलाहे कबीर के श्रम–दर्शन ने ही उसको यह विश्वास दिया कि वह तल्ख़ होकर समाज की कुरीतियों और असमानता आदि पर स्पष्ट बोल सके।

मुख्य शब्द

कबीर, हिंदी साहित्य, श्रम.

प्रस्तावना

प्रस्तुत शोध आलेख कबीर के इसी श्रमजीवी दर्शन पर आधारित है।

'बिन ठाहर बिसवास'
अनल आकासाँ घर किया, मद्धि निरंतर बास
बसुधा व्योम बिगता रहै, बिन ठाहर बिसवास

कबीर जब यह कहते हैं तो ध्यान रखना चाहिए कि यह 'बिन ठाहर' क्या है! अनल अकासा' क्या है! इनकी व्याख्या नाथ और योगियों की परिभ्शा और

मान्यताओं के अनुसार होती ही रही है बावजूद इसके यह समझना होगा कि पारंपरिक–वैचारिक मान्यताओं के बाद भी लिखने वाला अपने समय और समाज के द्वंद्व से उपजे अपने आत्मिक–व्यक्तिक संघर्ष की गुज़र को भी लिख रहा होता है। इस गुज़र से गुज़रे बिना रचनाकार के मूल उत्स तक पहुँचना कठिन है।

समाज मे ताकतवर और प्रभुत्वशाली होने के मोटे तौर पर कुछ पुख्ता सामाजिक धारणायें होती है जो असमानता आधारित होती है। जैसे–

1. ज्ञान–बल जिसे नए मुहाविरे मे हम शिक्षा कह सकते हैं। सामंती समाज मे यह ज्ञान धर्माधारित था। धर्म ही ज्ञान और ज्ञानोत्पादन का स्रोत था। बहस–मुबाहिसों और शास्त्रार्थ आदि मे जो मूल रूप से मसले– मुद्दे उठाए जाते थे वे धर्माधारित दार्शनिक–बौद्धिकता से जुड़े हुए होते थे। उनका व्यवहारवाद भी सीमित और विशेष समुदाय हितों, उनके ज्ञान और उनकी सोच की सीमा तक महदूद होते थे।
2. जाति–बल जो समाज और समुदाय में विश्वास के साथ स्थापित करती है। अस्तित्व और इडेंटिटी देती है। मूल अर्थ मे जाति ज्ञान से भी अधिक गहरे जड़ो मे बसी हुई थी। जाति प्रभुत्व और ताकत आज़माने और नीति–निर्देशन मे बड़ा काम किया करती थी।
3. धन–बल तो हर समय–समाज की सचाई है। जाति–जुलाहा कबीर अपनी ज़मीन पर एक श्रमिक थे। बुनकर! खटान का काम! आँख लगाकर बारीक काम करने वाले इस श्रम का स्थान समाज मे गरिमापूर्ण और भरोसे वाला नहीं था। सामंती समाज मे श्रम की जो स्थिति रही उसका वृहत्तर विस्तार औपनिवेशिक और बाद बाज़ारवाद के समय मे और कमतर और हीन हुआ।
4. पारम्परिक पारिवारिक पृष्ठभूमि का भी समाज मे अपना महत्व होता है। निर्धन–निर्जात परिवारों की पृष्ठभूमि भी यदि किसी मान्य परंपरा मे आती है तो समाज में उसका एक विशेष स्थान बनता है।

इनमे से किसी भी सामाजिक मापदंड के अनुरूप कबीर किसी बिन्दु,किसी स्थान पर समायोजित नहीं होते। इनमे से कोई आधार कबीर के पास नहीं है। कबीर इनमे से किसी पर, दावा तो छोड़िए किसी स्थान पर खड़े भी नहीं हो सकते तो वह कौन सा भरोसा, कौन सा विश्वास है जिसके बल पर कबीर इतना बोलते हैं? और इतना तल्ख़ इतने विश्वास के साथ बोलते हैं? वह कौन सी ठहर–ठौर है जहाँ से कबीर अपने समाज को नग्न आँखों से देखने का दावा करते हैं?

वह आधार.. वह भरोसा.. वह ठौर–ठाहर श्रम और संघर्ष का है।श्रम–संघर्ष की जगह से कबीर अपने समाज के जिस यथार्थ को देखते हैं वह शास्त्रार्थ–परंपरा की जगह से देखना संभव नहीं। घर, मठ और मंदिर मे बैठकर किए जाने वाले तात्विक–चिंतन और शास्त्रार्थ से श्रम के दर्शन और उससे उपजे दुख और विराग को नहीं समझा जा सकता। श्रम और संघर्ष सबके अपने हो सकते हैं! होते ही हैं लेकिन हमें उस श्रम को समझना होगा जो नितांत दैहिक या भौतिक है! सामाजिक मान्यताओं मे बिलकुल निचले दर्ज़े का माना जाने वाला! जिस पर समाज का सामंती ढाँचा खड़ा है लेकिन इस श्रम की कोई मान्यता नहीं है न ही कोई गरिमा। ऐसी अवस्थिति और काम जिसका कोई विकल्प नहीं, एक वर्ग को जिसे करना ही है,जिसके लिए एक समूचा समुदाय अभिशप्त है। भक्तिकाल के निर्गुण संतो का समुदाय दरअसल मेहनतकश और श्रमशील समुदाय है। निश्चित रूप से तत्कालीन समय मे अनेक धाराएँ और पंथ सक्रिय थे लेकिन उन पंथो से जुड़े निर्गुणियाँ किसी न किसी श्रमजीविता से जुड़े हुए थे। हिन्दी साहित्य के मान्य इतिहासों से इतर थोड़ा उतरकर सोचें तो इन निर्गुणियाँ पंथों ने जीवन–जगत के प्रति जिस तरह की गहरी और तात्विक बातें सूत्र रूप मे कह दी हैं इतनी सहजता–सरलता और स्पष्टता वैदिक–वैष्णव–शिव या शाक्त परम्पराओं नहीं है। यथार्थ और व्यावहारिकता के साथ साथ जीवन– विराग की इतनी ऊँची बातें हमे निर्गुण संतों मे ही दिखाई देती हैं। अकारण नहीं कि यह उनके यहाँ रगड़ खाये खुरदरी ज़मीनी हक़ीक़त से उपजे बयान हैं। सहज सहज सब ही कहें सहज न चीन्हे कोई हमारे समय का एक सरल–सादा कवि त्रिलोचन कहता है–

'इधर सचमुच तुम्हारी याद नहीं आई
झूठ क्या कहूँ। पूरे दिन मशीन पर खटना

बासे पर आकर पड़ जाना
और कमाई का हिसाब जोड़ना। बराबर चित्त उचटना
इस उस पर मन दौड़ाना
फिर उठकर रोटी करना
कभी नमक से कभी साग से खाना
आरर डाल नौकरी है। यह बिलकुल खोटी है।
इसका कुछ ठीक नहीं आना जाना।
आए दिन की बात है वहाँ टोटा–टोटा छोड़
और क्या था।
किस दिन क्या बेचा कीना
कमी अपार कमी का ही था अपना कोटा
नित्य कुआँ खोदना तब कहीं पानी पीना
धीरज धरो,आज कल करते तब आऊँगा
जब देखूंगा अपने पर कुछ कर पाऊँगा।

यहाँ इस कविता में कोई अतिरिक्त भावुकता या अतिरेकी विवशता और दुख नहीं है, क्योंकि श्रम से उपजे विचार और भावों के पास इतना अवकाश नहीं होता कि वह आत्मग्रस्त भावुकता के सुविधाजनक दुख बना सके।

श्रम के बल पर ही कबीर के भीतर यह विश्वास पैदा होता है कि वे धन–बल, ज्ञान–बल और जातिगत सत्ता संरचना को चुनौती देते रहे। पूंजीवादी समाज ने दैहिक श्रम को निचले पायदान पर रखकर प्रभु वर्ग को अनियंत्रित लूट का एक वैधानिक रास्ता दे दिया है जिससे काम करने वाला रोज़ दिन खटता रहता है, लेकिन श्रम के अनुरूप न उसे परिश्रमिक मिलता है, न ही समाज मे प्रतिष्ठा और स्थान!

पारंपरिक आलोचकों ने कबीर कि कविता को मात्र समाज–सुधारक कविता कहकर उसे एक किस्म से संभालने की कोशिश की है, वे उसके मर्म तक या तो गए नहीं या जान बूझकर जाना नहीं चाहते।

कबीर कि कविता खुद एक बयान है। वह कहती है–

'तेरा मेरा मनुवा कैसे इक होई रे
मैं कहता सुरझावन हारी तू राख्यों अरुझाय रे'

कबीर स्पष्ट कहते हैं कि वे जो शास्त्र बल पर, तथाकथित ज्ञान–बल पर, जाति–बल पर या धन–बल पर विद्वान बने हुए हैं उनका ज्ञान कितना खोखला और अधूरा है, इसलिए मेरा और उनका मन एक हो ही नहीं पाता। मैं चीजों को जीवन कि जटिल प्रक्रिया से भी सरलतम करके निकालता और समझता हूँ जबकि शास्त्रज्ञ जन उस सहज–ज्ञान को बौद्धिक–विलास के लिए उलझाते जाते हैं। शास्त्रज्ञ और धनी लोग जो श्रम को निचले दर्जे का समझते हैं, दरअसल वे भरे पेट और समाज मे जातिगत आधार पर प्रतिष्ठित लोग हैं, अतः उनके पास बौद्धिक विलास का समय है,बौद्धि विलास जैसे ज्ञान और शास्त्र को वे दर्शन के रंग मे लपेटकर जज्ञान का नाम देते हैं। कबीर ऐसे शास्त्र को चुनौती देते हैं–

'तू कहता कागद की लेखी
मैं कहता आंखिन की देखी'

कबीर को अपने जीवनगत अनुभव पर भरोसा है। उन्हे मनुष्य कि साझा पीड़ा, विशाद, शोषण और दुख की समझ है। उन्हे मनुष्य के समूहिक शक्ति और प्रतिरोध की समझ है। वे मनुष्य की समूहिक शक्ति को बिखेरने के शास्त्रीय छद्म को ठीक से समझते हैं।

हमारे समय के कवि आलोक धन्वा कहते हैं–

'मैं जानता हूँ कुलीनता की हिंसा'

कबीर को समायोजित करने के लिए अनेक कुलीन आलोचक और विद्वानो ने काम किया है, यहाँ तक कि उनकी साखियों की तर्ज़ पर अनेक छद्म साखियाँ रची गयी हैं जिनमे धार्मिक कर्मकांड को खूब बढ़ा–चढ़ाकर लिखा है जिससे मूल कबीर हमसे दूर पड़ते जाएँ, लेकिन यहाँ फिर इस बात की ओर ध्यान जाना चाहिए कि कबीर के श्रम संबंधी साखियों को ध्यान मे रखते हुए हमे इन छद्म साखियों को कैसे अलगाना चाहिए।

इसी तरह कबीर के गुरु संबंधी विचारों को लेकर भी छद्म पद रचकर संशय को बढ़ावा दिया गया है जिससे मूल कबीर तक हमारी पकड़ न रह सके, लेकिन बनारस कि ठसक वाले कबीर की बनारसी भाषा–भाव और तेवर कबीर को अंततः कबीर बनाती है।

निष्कर्ष

अतः कबीर हमारे समय का समाज सुधारक कवि नहीं, बल्कि विद्रोही कवि है। समाज–सुधार और अध्यात्मिकता के पारंपरिक चश्मे से हम कबीर की तल्खी,कबीर के दुख और कबीर की चिंताओं की लीपापोती कर देते हैं जबकि आज के पूंजीवादी दौर मे जहाँ गरीब–अमीर के बीच बढ़ती खाई, सामंतवाद के नए रूप और श्रम के अमानवीय वर्गीकरण के दौर मे कबीर की तल्खी और प्रश्न पूछने का साहस हमारे लिए बहुत ज़रूरी है।

कबीर अपने मूल मे शास्त्रज्ञों के आडंबरों के समानान्तर जनमानस के अनुभव आधारित मुखर ज्ञान को सामने रखते हैं, श्रमजीवी दर्शन को सामने रखते है. उसे प्रस्तावित करते हैं। इसी आधार पर वे श्रमशील जनता के पक्ष मे खड़े होकर सामंती–पूंजीवादी समाज की आलोचना भी करते हैं और इसके बदले किसी को नहीं बख़्शते।

संदर्भ सूची

1. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, (1990) *कबीर,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
2. अग्रवाल, पुरुषोत्तम, (2012) *अकथ कहानी प्रेम की,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
3. हाली, जॉन स्ट्रेट्न, (2019) *भक्ति के तीन स्वर, मीराँ सूर कबीर,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
4. पाण्डेय, मैनेजर, (2012) (पाँचवाँ संस्करण) *भक्ति आंदोलन और सूर का काव्य,* लोकचेतना प्रकाशन।

****